होती है। मन, वचन और काय समाधिदशा ग्रहण कर लेते हैं। बाह्यदृष्टि अन्तर्मुख होकर आत्मचिन्तन में लग्न हो जाती है। 'इच्छा निरोधस्तपः' के लिए बल प्रयोग करने जैसा अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं होती। वह 'तप' स्वयं सिद्ध हो जाता है जैसे सर्प ने केंचुली उतार दी हो, जैसे अधोगति का मार्ग छोड़कर कोई ऊर्ध्वगति के मार्ग पर आ गया हो। सम्यक्चारित्र के सर्वांगरहस्य उसके सामने स्वयं प्रकट होकर मार्गदर्शन करते चलते हैं। उसके ज्ञान, ऐश्वर्य और वीर्य में सातिशय उद्रेक का उदय होता है। दुःख, दुर्गति, भय, कष्ट, अभाव और अपूर्णता का क्षय हो जाता है। 'शिवः केवलोऽहम् शिवः केवलोऽहम्' मैं शिव हूं, मुक्तिपति हूं'— उसके प्राण बोलने लगते हैं। ज्ञान, भक्ति और आनन्द उसके श्वासोच्छ्वास बन जाते हैं। चारित्रमय होकर वह भवार्णव की कल्लोलों के घात–प्रतिघात से बच जाता है। शुद्ध मुक्तात्मा के रूप में मोक्ष को प्राप्त कर, जल में जलकल्लोल के समान आत्मरूप हो अक्षय आनन्दभाक् हो जाता है।

पिच्छि और कमण्डलु

दिगम्बर मुनि के पास संयम तथा शौच के उपकरण के रूप में पिच्छि और कमण्डलु होते हैं। सर्वथा नग्न एवं अपरिग्रहमहाव्रती मुनि को चर्या की निर्दोषता के रक्षार्थ इन्हें रखने की शास्त्राज्ञा है। मानो, पिच्छि और कमण्डलु मुनि के स्वावलम्बन के दो हाथ हैं। प्रतिलेखन-शुद्धि के लिए पिच्छि की नितान्त आवश्यकता है और पाणि-पाद-प्रक्षालन के लिए, शुद्धि के लिए कमण्डलु वाञ्छनीय है। पिच्छिका मयूरपंखों से बनायी जाती है अन्य पंख पिच्छि के लिए उपादेय नहीं माने गये। क्योंकि मुनियों के लिए हिंसा, चौर्य, परिग्रह आदि सर्वथा निषिद्ध हैं और मयूरपंख ही ऐसे सुलभ हैं जिन्हें वह उल्लिखित दोषों से बचते हुए ग्रहण कर सकता है (सकते हैं)। वह इस प्रकार कि मयूर वर्ष में एक वार अपनी जीर्ण पक्षावली का त्यागकर नवीन प्राप्त करता है अतः समय पर विना हिंसा उसे प्राप्त किया जा सकता है। वनों में विचरते हुए मुनियों को वृक्षों के नीचे पुष्कल परिमाण में स्वयं पतित पंख अनायास मिल जाते हैं। ये पंख स्वयं मयूर द्वारा परित्यक्त अथ च भूमिपतित होते हैं अतः इन्हें ग्रहण करने में चौर्यदोष भी नहीं लगता। तीसरी बात यह कि प्रतिवर्ष और पुष्कल मात्रा में अनायास मिलते रहने से, यह आवश्यक नहीं कि इनको बटोरकर, संगृहीत कर आगामी वर्षों के लिए संचित किया जाए जिससे कि परिग्रहदोष की सम्भावना हो। इसके अतिरिक्त मयूरपिच्छ का लवभाग (बालमय अग्रभाग) इतना मृदु होता है कि प्रतिलेखन से किसी सूक्ष्म जन्तु की हिंसा भी नहीं होती। स्वयं मयूरी के पंख भी पिच्छि के निमित्त उपादान नहीं हो सकते। एक जाति के युगल (दम्पति) में भी समान मृदुपिच्छ प्रसूत करने की क्षमता नहीं है अन्य जातीय पक्षियों के लिए तो कहना व्यर्थ ही है। इन कारणों से मयूरपिच्छिधारण दिगम्बर साधु की मुद्रा है। पिच्छि रखने से वह नग्नमुद्रा किसी प्रमादी की न होकर त्यागी का परिचय उपस्थित करती है। 'मुद्रा सर्वत्र मान्या स्यात् निर्मुद्रो नैव मन्यते' – नीतिसार की यह उक्ति सारगर्भित है। मुद्रा चाहे शासन वर्ग हो, धार्मिक वर्ग हो अथवा व्यापार-वर्ग हो सर्वत्र अपेक्षित होती है। मुद्रारहित की मान्यता नहीं। वैष्णवों, शाक्तमतानुयायियों, शैवों, राधास्वामीसाम्प्रदायिकों आदि में तिलक लगाने की

पृथक्-पृथक् प्रणाली है। राजभृत्यों के कन्धों पर अथवा सामने वक्षःस्थल पर वस्त्र-निर्मित या धातुघटित मुद्रा (चिह्न) होती है जिससे उसकी पद-प्रतिष्ठा जानी जाती है और राजभृत्यता की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। कागज के नोट 'मुद्रां' कित होने से चलते हैं। डाक-तार विभाग मुद्रात्मक है। एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में प्रवेश पाने के लिए अनुमतिपत्र (पासपोर्ट) और रेलयात्रार्थ यात्रापत्र लेना आवश्यक है। इसलिए भी श्रमण परम्परा के आदिकाल से अधिकृत चिह्न के रूप में पिच्छिकमण्डलु रखने का विधान चला आया है। 'भद्रबाहु क्रियासार' में पिच्छि रखना आवश्यक बताते हुए कहा गया है कि जो श्रमण पिच्छि नहीं रखता तथा उसकी निन्दा करता है वह 'मूढचारित्र[1]' है। क्योंकि चारित्रपालन में, कायोत्सर्ग में, गमनागमन में, बैठने-उठने में पिच्छिका का सहयोग विदित है। अपेक्षासंयमी मुनि को अवधिज्ञान से पूर्व पिच्छि धारण करना शास्त्रसम्मत है[2]। मराठी-कवि जनार्दन ने त्यागियों के लिए लिखा है कि –

करोनी परिग्रहत्याग, तीन राखावे काये संग
पुस्तक, पीछी ठेवी अभंग कमण्डलभृंग शौचासी ॥ १३०

अर्थात् परिग्रहों का त्याग करो और पुस्तक, पिच्छि और कमण्डलु को रखो। यहां पुस्तक का अर्थ शास्त्र है। वास्तव में शौच, संयम और ज्ञान के तीन उपकरण रखने मुनि को उचित हैं। आचार्य सकलकीर्ति ने 'मूलाचार' में सूचना दी है कि 'कार्तिकमास में स्वयंपतित पिच्छों से सत् प्रतिलेखन तैयार कर लेना चाहिए यह लिंग है, योगियों का चिह्न है[3]।' जैसे शिशिर में वृक्षों के जीर्ण पत्र स्वयं गिर जाते हैं वैसे ही मयूरपंख कार्तिक में झड़ जाते हैं। अहिंसामहाव्रती जब किसी स्थान पर विराजमान होते हैं, तब इसी कोमलबालाग्र पिच्छि से बुहारकर बैठते हैं इससे दृश्य-अदृश्य जीवाणु वहां से अन्यत्र कर दिये जाते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय में मुनि, ऐलक, क्षुल्लक तथा आर्यिका माताएं पिच्छि-कमण्डलु धारण करते हैं। 'भद्रबाहु क्रियासार' में वर्णन है कि 'वह सूरि पांच सौ शिष्यों सहित अथवा चार,

१. 'जो सवणो णहि पिच्छं गिण्हदि णिदेदि मूढचारित्तो।
सो सवण संघवज्जो अवंदणिज्जो सदा होदि ॥' – भ० वा० क्रियासार, ७६.

२. 'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम्।
यत् स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ॥' – भावसंग्रह, २७६.

३. 'भत्त्वेति कार्तिके मासि कार्यं सत्प्रतिलेखनम्।
स्वयंपतितपिच्छानां लिंगं चिह्नं च योगिनाम् ॥' – मूलाचार

तीन, दो, एक पिच्छिधारियों को साथ लेकर विहार करता है। संघपति भी आचाय का शिष्य होता है और आर्यिका पिच्छिधारण करती है[1]। इस प्रकार पिच्छि रखने का निर्देश प्राचीन श्रमणपरम्परा से चला आया है। मयूरपंखनिर्मित पिच्छिधारी दिगम्बर का उल्लेख वैदिकों के पुराणसाहित्य में भी पाया जाता है। पद्मपुराण, विष्णुपुराण तथा शिवपुराण के टिप्पणी में दिये गये उद्धरणों से यह स्पष्ट है[2]। शिवपुराण में एक कथा आई है कि शिव ने दिगम्बर मुद्रा धारण कर देवदारु वन में आश्रम का निरीक्षण किया था। उनके हाथ में मयूर-पिच्छि थी। प्रसिद्ध स्तोत्र 'नमःशिवाय' (पंचाक्षर स्तुति) में 'दिव्याय देवाय दिगम्बराय' – शिव की दिगम्बरमुद्रा लिखी है। पिच्छि को प्रतिलेखन मात्र नहीं माना गया है अपितु वन्दना, सामायिक, प्रायश्चित्त, रुग्णदशा, आहारसमय, गमन आदि प्रकरणों में पिच्छि के विभिन्न उपयोगरूप शास्त्रों में निर्दिष्ट हुए हैं। वन्दना के समय मुनि आचार्य महाराज को 'मैं वन्दना करता हूँ' – ऐसा कहते हुए पश्चर्धशय्या से आस्थित होकर पिच्छि को मस्तकस्पर्श देते हुए वन्दना करे[3]। इसी प्रकार जब आचार्य प्रतिवन्दन करें तब उन्हें सपिच्छाञ्जलि होना चाहिए[4]। जिस मुनि महाराज को प्रायश्चित्त दिया गया है, उनको पिच्छि का लोमाग्र भाग आगे की ओर रखना होता है। यह उनके प्रायश्चित्तीय होने का निदर्शक है। जब वे आहार के लिए श्रावकबस्ती में जाते हैं तब पिच्छिकमण्डलु (दोनों) उनके हाथ में होते हैं। यों साधारण विहारसमय में कमण्डलु को श्रावक, ब्रह्मचारी आदि लेकर चल सकते हैं। जिस श्रावक के यहां उन्हें आहारविधि मिल जाती है तब वे पिच्छि और कमण्डलु को वामहस्त में एक साथ धारण करते हैं और दक्षिण स्कन्ध पर अपना पंचांगुलिमुकुलित दक्षिण पाणि रखकर आहारस्वीकृति व्यक्त करते हैं[5]। आहार करते समय पिच्छिस्पर्श अन्तराय माना गया है, अतः उसे

१. 'पंचसय पिच्छहत्थो अह चतु-तिग-दोण्णिहत्थो।
संघवइहु सीसो अज्जापुणु होदि पिच्छकरा ॥' – भद्रबाहुक्रियासार.

२. 'योगी दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः'। – पद्म०, १३।३३.
'ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपिच्छधरो द्विजः'। – विष्णु०, ३।१८.
'मयूरचन्द्रिकापुंजपिच्छिकां धारयन् करे।' – शिवपु०, १०।८०।८०.

३. 'पश्चर्धशय्ययाऽनम्य सपिच्छाञ्जलिमालकः।' – आचारसार, ६१.

४. 'विगौरवादिदोषेण सपिच्छाञ्जलिशालिना।
सदञ्जसर्याचार्येण कर्तव्यं प्रतिवन्दनम् ॥' – आचारसार, ६२.

५. 'पिच्छं कमण्डलुं वामहस्ते स्कन्धे तु दक्षिणम्।
हस्तं निधाय संदृग्भ्या स व्रजेत् श्रावकालयम् ॥' – धर्मरसिक.

उस समय दूर रखते हैं। कुछ लोग मयूरपंख को प्राण्यंग होने से अपवित्र कहते हैं। किन्तु श्रीचामुण्डरायरचित 'चारित्रसार' का कथन है कि 'शरीरजा अपि मयूर-पिच्छसर्पमणिशुक्तिमुक्ताफलादयो लोके शुचित्वमुपागताः' – अर्थात् मयूर के पंख, सर्पमणि, सीप और मुक्ताफल आदि (गजमुक्ता) शरीरज होने पर भी लोकव्यवहार में शुचि माने गये हैं। यही हेतु है कि शास्त्रों ने इसे धर्मपरिग्रह स्वीकार किया है। 'मूलाचार' तो पिच्छि को दया का उपकरण कहते हैं। उनकी मान्यता है 'प्रतिलेखन के लिए मयूरपिच्छिधारण श्रेष्ठता की बात है। तीर्थंकर परमदेव इसे सूक्ष्म जीवों तक का रक्षात्मक होने से दयोपकरणरूप में योगियों के लिए प्रशंसनीय कहते हैं[1]। मंत्रलक्षणशास्त्र कहता है कि पिच्छि आवश्यकता होने पर छत्र भी है और चामर भी, यंत्र और मंत्र की प्रसिद्धि (सिद्धि) के लिए भी इसका व्यवहार किया जाता है और सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा के लिए तो है ही[2]। इस प्रकार पिच्छि पंचगुणविभूषित है। मूलाराधना में पिच्छि के अन्य पांच गुण बताते हुए कहा है कि 'रज और स्वेद का अग्रहण, मृदुता, सुकुमारता और लघुत्व (हल्कापन) जिस पिच्छि में ये पंचगुण विद्यमान हों, उस प्रतिलेखन-उपकरण की प्रशंसनीयता असंदिग्ध है[3]।' सकलकीर्ति-धर्मप्रश्नोत्तर में मूलाराधनाप्रोक्त पंच गुणों का कीर्तन करने के पश्चात् इसमें निर्भयता आदि अतिरिक्त गुणों का निर्देश किया गया है[4]। नीतिसार का कथन है कि 'छाया में, आतप में अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमनागमन करते समय मयूरपिच्छि से आलेखन करके ही मुनि को वर्तना चाहिए[5]। 'चारित्रसार' में किसी प्रकार के तत्क्रिया-असमर्थ रोगादि कारण होने

---

१. 'सन्ति मयूरपिच्छेऽत्र प्रतिलेखनमूर्जितम्।
तं प्रशंसन्ति तीर्थेशा दयायै योगिनां परम् ॥' – मूलाचार, ३२.

२. 'छत्रार्थं चामरार्थं च रक्षार्थं सर्वदेहिनाम्।
यंत्रमंत्रप्रसिद्धचर्थं पंचैते पिच्छिलक्षणम् ॥' – मंत्रलक्षणशास्त्र.

३. 'रजसेदाणमगहणं मद्दवसुकुमालदा लघुत्तं च।
जत्थेदे पंचगुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥' – मूलाराधना, ९८.

४. 'अथ पिच्छिकागुणा रजःस्वेदाग्रहणद्वयम्।
मार्दवं सुकुमारत्वं लघुत्वं सद्गुणा इमे ॥
पंच ज्ञेयास्तथा ज्ञेया निर्भयादिगुणोत्तमाः।
मयूरपिच्छजातायाः पिच्छिकाया जिनोदिताः ॥' – सकलकीर्तिधर्मप्रश्नोत्तर, २९-३०

५. 'पिच्छेन मृदुनाऽलिख्य वपुर्घर्माद् विशेन् मुनिः।
छायां तथैव घर्मं च भूमिभेदेऽपि चान्वहम् ॥' – नीतिसार, ४३.

पर कहा गया है कि 'मुनि पिच्छिसहित अंजलिबद्ध होकर, जुड़ी हुई अंजलि को वक्षःस्थल के मध्य में स्थित करके पर्यंकासन, वीरासन अथवा सुखासन से बैठकर, मन को एकाग्र कर स्वाध्याय तथा वन्दना करे[1]। खड़े होने की शारीरिक अशक्ति-दशा में ही यह विधान है, स्वस्थ रहते नहीं। मयूरपिच्छि में एक अन्य विशिष्ट गुण 'मूलाराधना' पृष्ठ २१५ में बताया गया है कि जो सवस्त्रलिंग धारण करते हैं उन्हें वस्त्रखंड को बहुत शोधना होता है परन्तु मयूरपिच्छि मात्र परिग्रही (निर्ग्रन्थ) को बहुत शोधने की आवश्यकता नहीं। स्वयं ही उन्हें अप्रतिलेखन गुण प्राप्त है[2]।' 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' का प्रतिपादन है कि 'श्रमणशास्त्रों में अदत्त के आदान को स्तेय (चौर्य) कहा है। कोई भी लघु या महत् वस्तु, जो स्वयं की न हो, परकीय हो, उसे वस्तु के स्वामी से ही याचनाकर प्राप्त करना चाहिए। जान-बूझकर अथवा प्रमादवश, अजाने ग्रहण की हुई वस्तु चौर्यलब्ध ही मानी जाएगी। इस अर्थ में सामान्यरूप से किसी भी अदत्तवस्तु के ग्रहण का विधान मुनि के लिए नहीं है। तब क्या मयूरपिच्छ और कमण्डलु जो अरण्य में पड़े हुए मिल जाते हैं, मुनि को नहीं ग्रहण करने चाहिए? वे भी तो अदत्त हैं, उनका आदान कैसे हो? इस शंका का समाधान करते हुए आगे कहा गया है कि नदियों, निर्झरों आदि का जल, सूखे हुए गोमयखण्ड, अथवा भस्म आदि, अपनेआप मुक्त मयूरपंख एवं तुम्बीफल आदि (उक्त आदि शब्दों से मिट्टी तथा सामुद्रिकनारियल अर्थ ग्रहण करना अभीष्ट प्रतीत होता है) ग्रहण करने में स्तेयदोष नहीं लगता यह सब 'प्रासुक' है, इसमें स्तेय नहीं है और इनका ग्रहण प्रमत्तत्व की हानि के लिए अभीष्ट है[3]। कषायसहित मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को प्रमत्तयोग कहा गया है किन्तु धर्मपरिग्रह के रूप में आवश्यक पिच्छि और कुण्डी का ग्रहण

---

१. 'सप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्संगितकरः सपर्यंकः।
कुर्यादेकाग्रमनाः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या ॥' – चारित्रसार, ४३.

२. 'अप्पडिलिहणं वसनसहितलिंगधारिणो हि वस्त्रखण्डादिकं शोधनीयं
महत्। इतरस्य पिच्छादिमात्रम्।' – मूलाराधना.

३. 'प्रमत्तयोगतो यत् स्याददत्तादानमात्मनः।
स्तेयं तत् सूत्रितं दानादानयोग्यार्थगोचरम् ॥
तेन सामान्यतोऽदत्तमाददानस्य सन्मुनेः।
सरिन्निर्झरणाद्यम्भः शुष्कगोमयखण्डकम् ॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबुफलादिकम्।
प्रासुकं न भवेत् स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥' – तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ७।१५.

कषायनिमित्तक नहीं है प्रत्युत वीतराग मुनिचर्या का उपकारक है। तथा च जीवरहित, अचित्त होने से पिच्छि-कमण्डलु प्रासुक[1] हैं। 'भद्रबाहुक्रियासार' में पिच्छि को मोक्ष का साधक अन्यतम कारण बताते हुए कहा है कि जो मुनि अपने पास पिच्छि नहीं रखता है वह कायोत्सर्ग के समय, स्थिति में, उत्थान में, गमनागमन में अपनी दैहिक क्रियाओं से सूक्ष्म जीवों का नाश करता है। परिणामस्वरूप उसे हिंसादोष लगता रहता है और मोक्षप्रतिबन्धक कर्मों से उसे मुक्तिश्री की प्राप्ति नहीं होती[2]। उक्त समर्थनों से सिद्ध है कि मयूरपिच्छि का धारण करना त्यागियों के लिए आवश्यक है। निर्वाणभूमि पर पहुंचाने में जहां सम्यग्दर्शनज्ञानसमन्वित सम्यक्चारित्र साक्षात्कारण है वहां पिच्छि-कमण्डलु भी चारित्रचर्या के सहायक उपकरण होने से उपकारक अथवा परम्परित कारण हैं। अत्यन्त कोमल, नयनाभिराम, सुन्दर होते हुए भी मयूर इनका यथासमय त्याग कर देता है और मोह नहीं करता। इस प्रकार यह निर्मोह सिखानेवाली है। मुनि को पिच्छि को देखते ही वीतराग भाव का स्मरण होना चाहिए। अहो! तिर्यक्योनि होते हुए भी मयूर को अपने एकमात्र अलंकरण वहाँ पर मोह नहीं उत्पन्न हुआ, मुनि तो मनुष्य पर्यायधारी है, धीमान् है, विवेकसम्पन्न है। यदि वह रागान्ध हो तो धर्म रसातल चला जाना चाहिए। मयूरपंख देखकर संयम के भावों में अवश्य वृद्धि होती है और इसी हेतु से इसे संयमोपकरण कहना समीचीन है। पिच्छिधारण निर्मल तथा शुद्ध जिनलिंग है। इस तथ्य को 'षट्प्राभृत' ग्रन्थ के 'भावप्राभृत' प्रकरण की ७९वीं गाथा के चतुर्थ चरण 'जिनलिंगं णिम्मलं सुद्धं' – की टीका में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'जिनलिंगं नग्नरूपमर्हन्मुद्रामयूरपिच्छकमण्डलुसहितं निर्मलं कथ्यते। तद्द्वयरहितलिंगं कश्मलमित्युच्यते। तीर्थकरपरमदेवात्तप्तर्द्धेविना अवधिज्ञानाद् ऋते चेत्यर्थः।' – अर्थात् मयूरपिच्छि तथा कमण्डलुसहित नग्नरूप ही अर्हन्त भगवान् की मुद्रा है। वह निर्दोष एवं निर्मल है। जो इन दोनों से रहित नग्नरूप है वह मलिन कहा जाता है। किन्तु तीर्थंकर परमदेव, तप्तर्द्धिधारक तथा अवधिज्ञानी को इनका धारण करना आवश्यक नहीं है। ये (उक्त) पिच्छिकमण्डलुरहित भी अर्हन् मुद्राधारी माने गये हैं। 'भावसंग्रह' में

१. प्रासुकस्यार्थः – 'सुक्कं पक्कं तत्तं अम्मिललवणेण मिस्सयं दव्वम्।
जं जंत्रेण हि छिन्नं तं सव्वं पासुयं भणियं ॥' – गृहस्थधर्म, ११.

२. 'ठाणणिसिज्जागमणे जीवाणं हंति अप्पणो देहं।
दसकत्त रिठाण गदं णिपिच्छे णत्थि णिव्वाणं ॥' – भद्रबाहुक्रि०, २५.

भी अवधिज्ञान से पूर्व तक पिच्छिधारण प्रतिलेखनशुद्धि के निमित्त आवश्यक कहा है[1]। अवधिज्ञान के अनन्तर इसका धारण आवश्यक नहीं। उपेक्षासंयमी को पिच्छि की आवश्यकता नहीं। किन्तु अपेक्षासंयमी को धारणीय है ही। आदानसमिति तथा निक्षेपसमिति का उल्लेख करते हुए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि 'अपहृतसंयमधारी मुनियों को आगम अर्थ के प्रत्यभिज्ञान के लिए बार-बार ज्ञानोपकरण (शास्त्र) की आवश्यकता होती है, विशुद्धि के लिए शौचोपकरण कमण्डलु की तथा संयमोपकरणरूप में पिच्छि की आवश्यकता होती है। इन शौच-संयम-ज्ञानोपकरणों के बारम्बार ग्रहण तथा विसर्ग में जो प्रयत्नपरिणाम होता है उसे आदानसमिति तथा निक्षेपणसमिति कहा गया है[2]। एकादश प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार का होता है प्रथम एकवस्त्रधारी, द्वितीय वस्त्ररहित कौपीनमात्रधारी। ये दोनों ही तप, व्रत, नियमादि पालन करते हैं। कौपीनमात्र धारण करनेवाले ऐलक 'कचलोंच' करते हैं। पिच्छिधारण दोनों (क्षुल्लक, ऐलक) करते हैं। अनुप्रेक्षा (द्वादशानुप्रेक्षा) धर्मध्यान तथा किसी एक स्थान पर करपात्र में स्थितिभोजन और आसन लेकर भी आहार ग्रहण करते हैं[3]। मयूरपिच्छि के महत्त्व की सीमा नहीं है। त्यागी के लिए पिच्छि कितनी उपकारिणी है यह पर्याप्त बताया जा चुका है। पिच्छि को मिथ्यात्वनाशक तथा दुर्मदगजेन्द्र को बाधा देनेवाला सिंह कहा गया है। 'मिथ्यात्वनाशं मदसिंहराजम्' – उसके लिए प्रयुक्त प्रशंसावचनों में से हैं। वसुनन्दिश्रावकाचार, चारित्रसार, भगवती-आराधना और वट्टकेर मूलाचार इत्यादि में पिच्छिधारण का महत्त्व निरूपित किया गया है। जो त्यागी पिच्छिधारण करते हुए अपने भावलिंगी, वीतराग, त्यागप्रधान, लोकगुरुस्वरूप का संरक्षण नहीं करता, वह मुनिवेष को तिरस्कृत करता है। मुनि और सामान्य लौकिक आगारधर्मियों में यदि सम्यक्चारित्र और अपरिग्रहादि से प्रतीयमान शिष्ट-विशिष्ट-

१. 'अवधेः प्राक् प्रगृह्णन्ति मृदुपिच्छं यथागतम्।
यत् स्वयं पतितं भूमौ प्रतिलेखनशुद्धये ॥' – भावसंग्रह, २७६.

२. 'पुस्तककमण्डल्वादिग्रहणविसर्गयोः प्रयत्नपरिणामः।
आदाननिक्षेपणसमितिर्भवतीति निर्दिष्टा ॥' – (छाया) – नियमसार.

३. 'एकादशस्थाने उत्कृष्टश्रावको द्विविधः।
वस्त्रैकधरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहो द्वितीयः॥
तपोव्रतनियमावश्यकलोचं करोति पिच्छं गृह्णाति।
अनुप्रेक्षा धर्मध्यानं करपात्रे एकस्थाने ॥' – आलोचना.

बोधक भेदरेखा नहीं होगी तो पर्वत के शिखर और घाटियों के निम्नोन्नतत्व को समान आंकना होगा। पिच्छिग्रहण करने पर वह प्रवृत्तिमार्ग त्यागकर निवृत्ति मार्ग पर गतिमान् होता है। कोटि कोटि जन जिस दिगम्बरत्व को अपना आराध्य, वन्दनीय मानते हैं वह उस वर्ग का महानुभाव व्यक्ति बन जाता है। ऐसी स्थिति में तप, त्याग, चारित्र और आत्मकल्याण की वीथी को प्रशस्त करनेवाले व्यवहारों एवं निश्चयों के कठिन-कठोर मार्ग पर त्यागी को अधिक से अधिक सशक्त और अकम्प पद रखने चाहिए। जिस आस्था से उसने पिच्छिकमण्डलु लिये हैं उस आस्था के लोकपूज्य रूप की संवर्द्धना में योग देना मुनि का धर्म है। यदि पिच्छि लेकर भी त्यागी के मन में आकिंचन्य का उदय नहीं हुआ और परिग्रहों पर तृष्णा बनी रही तो निश्चय ही मयूरपंख के चन्द्रक उस आत्मवंचित पर हँसेंगे। इससे तो राग का मार्ग अच्छा था। उसी पर चलते तो एक निश्चित मार्ग तो सम्मुख रहता। अब पांव शिला पर हैं और मन कुसुम की मृदुल पंखड़ियों पर – यह द्वैधाचार श्लाघनीय नहीं। जिस भूमि पर खड़े होना है, उसीके होकर रहो। पिच्छिकमण्डलुधारण मात्र से मोक्ष मिल गया, ऐसा मानना मिथ्यात्व है। यदि ऐसा होता तो पिच्छि का प्रथम धारक मयूर पहले मोक्ष गया होता। बहुत-से अकिंचन जो धातुपात्रों के अभाव में कमण्डलुधारक हैं, प्रतिष्ठा को प्राप्त किये होते। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। यह तो त्यागी के लिए अनिवार्य आवश्यकता होने से विहित है और बन्धन है। उसके लिए तो परपदार्थ सभी रुकावटें हैं और शरीर तक बन्धन माना गया है। पिच्छिकमण्डलु तो शरीर नहीं हैं और भी बाहर की वस्तुएं हैं। कदाचित् इसी आशंका से मुनियों को सावधान करने की आवश्यकता शास्त्रकारों ने अनुभव की है। एक ओर वे कहते हैं कि यदि 'विना पिच्छि के सात कदम गमन कर लिया तो कायोत्सर्ग करना होगा और दो कोस प्रमाण मार्ग पर विना पिच्छि चल लिये तो शुद्धि तथा उपवास दो-दो प्रायश्चित्त आवश्यक होंगे[1]। दूसरी ओर कहते हैं कि जो त्यागी पिच्छि तथा संस्तर (चटाई आदि) पर ममत्व करता है तथा ममत्वपरिणाम से आर्त-रौद्रध्यान-परायण होता है उसे क्या मोक्षसुख की प्राप्ति हो सकती है? 'सरहपाद' में भी पिच्छिव्यामोह पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि – 'पिच्छिग्रहणमात्र से मुक्ति मिलती होती तो उसका प्रथम अधिकारी मयूर होना चाहिए और यदि

१. 'सप्तपादेषु निःपिच्छः कायोत्सर्गेण शुद्धचति।
गव्यूतिगमने शुद्धिमुपवासं समश्नुते ॥' – चारित्रसार, ४४.

उच्छ भोजन से मोक्ष होता तो वन में विकीर्ण (स्वयं पतित) वृक्षपत्रावली खाकर जीवनयात्रा चलानेवाले पशुओं को वह होना चाहिए किन्तु चमरी गाय, पिच्छिधर मयूर, उच्छ और शिलभोजी वन्यजीवों को उद्दिष्ट उपकरणों से मोक्ष सम्भव नहीं। मोक्ष की उपलब्धि सम्यक् चारित्र द्वारा ही होती है। पिच्छि और कमण्डलु मुनिचर्या के सहायक उपकरण मात्र हैं और उपेक्षासंयम अवस्था में, अवधिज्ञानी होने पर अथवा तद्धि होने पर उसकी आवश्यकता नहीं रहती। पिच्छि से विहित चर्यासौविध्य मात्र ग्राह्य है, यथेच्छ व्यवहार उसके द्वारा नहीं किया जा सकता। यथेच्छ व्यवहार तो प्रायश्चित्त का कारण बन जाता है। नीरोगदशा में यदि मुनि उसे मस्तक पर छायार्थ उत्तोलित करता है, छाती को आच्छादित करता है और मस्तक-आवरण बनाता है तो उसे प्रायश्चित्त कल्याणक देना चाहिए। रुग्णदशा में दोष नहीं माना गया[1]। तथापि वह अपवाद मार्ग है और यावच्छक्य मुनि को अपवाद और प्रायश्चित्तीय मार्ग नहीं लेना चाहिए। पिच्छि अप्रतिलेखन गुण से युक्त है किन्तु कमण्डलु में सम्मूर्च्छन जीवों की उत्पत्ति होती रहती है अतः उनके निराकरणार्थ एक पक्ष में उसे बाहर-भीतर से प्रक्षालित करते रहना चाहिए। यदि एक पखवाड़े के पश्चात् भी कमण्डलु का सम्प्रोक्षण नहीं किया गया तो प्रतिक्रमण तथा उपवास लेना होगा[2]।' इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जो पिच्छिग्रहण की मर्यादा का निरूपण करते हैं और वैसे भी हैं जो अवधिज्ञानादि विशेष स्थितियों में इसकी आवश्यकता का सर्वथा निराकरण करते हैं तथा इस पर उत्पन्न हुए व्यामोह की 'यावच्च आर्तरौद्रं तावन्न मुंचति' – कहकर भर्त्सना भी करते हैं। इन्हें परस्पर विरोधी नहीं मान सकते। क्योंकि जो पिच्छिकमण्डलुग्रहण की आवश्यकता का निरूपण करते हैं वे मुनिचर्या के विधिपरक सूत्र हैं और सम्यक् जिनलिंग को प्रमाणित करते हैं किन्तु पिच्छिग्रहण मात्र से मोक्ष नहीं होता, अथवा पिच्छिकमण्डलु पर आसक्तिभाव नहीं रखना चाहिए – इत्यादि प्रतिपादन करनेवाले सूत्र हैं, वे मुनि के व्यामोहनिवर्तक हैं। हो सकता है, मोह तथा अज्ञान के प्रभाव से मुनि को अपने पिच्छिकमण्डलु पर व्यामोह उत्पन्न हो जाए या शास्त्रज्ञान के अभाव में अथवा मूढ आग्रह से वह

१. 'उच्छीर्षस्य विधानेऽपि प्रतिलेखस्य हृच्छदे।
मस्तकावरणाद् देयं कल्याणं वा न दुष्यति ॥' – प्रायश्चित्त, ७५.

२. 'शश्वद् विशोधयेत् साधुः पक्षे-पक्षे कमण्डलुम्।
तदशोधयतो देयं सोपस्थानोपवासनम् ॥' – प्रा० समुच्चय, ८८.

पिच्छि को ही इतना महत्त्व देने लगे कि – 'बस ! पिच्छि मिल गई, मानो मोक्ष मिल गया' – और ऐसा मानकर सम्यक्चारित्रपालन में शिथिलाचारी हो जाए, ऐसी स्थिति में उसे इन गाथाओं, श्लोकों तथा सूत्रों से संवित् मिलनी चाहिए कि पिच्छिग्रहण करने मात्र से कोई सम्यक्त्वी नहीं बन जाता[1]। सर्वस्वत्यागी त्यागी के व्रतों की निर्दोष रक्षा के लिए ही इन निषेधसूत्रों का निर्माण किया गया है। क्योंकि परिग्रह का अर्थ विशालसम्पत्ति से ही गतार्थ नहीं होता, एक सूई भी मूर्च्छा (व्यामोह) का कारण हो सकती है और वह सूची का अग्रभाग भी मूर्च्छा-कारक होने से परिग्रह कहा जाएगा – 'मूर्च्छा परिग्रहः' – यह सूत्र उपादानों की विपुलता को ही परिग्रह नहीं मानता, अपितु जिस वस्तु के लवमात्र ग्रहण से मूर्च्छा का उदय हो, वही परिग्रह है। तब व्यामोह होने से पिच्छि भी मुनिचर्या की साधिका न होकर प्रत्यवायकारिणी हो सकती है। परमात्मप्रकाश की उक्ति है कि – 'चेला-चेलियों का परिवार बढ़ाकर, पुस्तकों का प्रभूत संग्रह कर अज्ञानी को हर्ष होता है। किन्तु जो ज्ञानी है, वह इन परिग्रहों से शरमाता है तथा इन्हें राग और बन्धकारण मानता है। यदि त्यागी का मन चेला-चेलियों, पुस्तकों, पिच्छि-कमण्डलुओं, श्रावक-श्राविकाओं, अर्जिका-क्षुल्लक-ऐलक-परिवारों में तथा चौकी-पट्टे-चटाई आदि में उलझा रहा तो इनको लेकर रातदिन उसे आर्त-रौद्र ध्यान में फँसना पड़ेगा। न निराकुलचर्या हो सकेगी न स्वाध्याय और सामायिक। जिस आत्मकल्याण के लिए मुनिदीक्षा ली, वे उद्देश्य कहीं मूर्च्छाओं में खो जाएंगे[2]। ये परिग्रह त्यागी का पतन कराने में सहायक होकर उसे आत्ममार्ग से विस्मृत कर सकते हैं। त्यागी और रागी के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। प्रसंगवश यहां यह लिखना अवसरोचित होगा कि त्यागियों को धनसम्पन्न तथा स्वल्पवित्त, विशेष अथवा सामान्य श्रावकों, जनों के आगमन पर अपने को अधिक गौरवशिखरारूढ नहीं मानना चाहिए। उनका समभाव ही लोककल्याणकारक है। ऊंचे-नीचे आसनों की व्यवस्था तो राजपरिषदों में ही बहुत है। स्वयं भूमि पर, शिलातल पर अथवा चटाई पर बैठनेवाले मुनियों के पास आनेवाले को गद्दी-मसनद (गाव-

१. 'पिच्छेण हु सम्मत्तं करगहिए चमरमोरडंबर ए।
समभावे जिणदिट्ठं रायाई दोसचत्तेण ॥' – ७।७ गाथा, २८.

२. 'चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं तूसइ मूढ णिभंतु।
एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधह हेउ मुणंतु ॥
चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्लाचेल्लियराहिं।
मोह जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडियतेहिं ॥' – परमात्मप्रकाश, ८८–८९.

तकिया) या मृदुल मखमली गलीचों की अपेक्षा नहीं होती। वह तो मुनिचरणों में उपासीन होकर, त्यागी के चरणों की धूलि ललाट पर लिम्पन कर प्रसन्न होता है। उसके लिए सम्भ्रम के उपकरण प्रस्तुत कर उसके आगमन को अतिरंजित बनाना वीतरागमुनिचर्या से विपरीत है। श्रमणों के आराध्य भगवान् के लिए तो स्तुति के छन्द लिखते समय 'इन्द्रः सेवां तव सुतनुतां' – कहा गया है। विगौरव का दोष जानबूझकर नहीं लेना ही श्रेष्ठ है। इस विषय में सिकन्दर और दिगम्बर मुनि के साक्षात्कार का एक प्रसंग इतिहासप्रसिद्ध है। त्यागी को उस आरण्यक नदी के समान होना चाहिए जिसके तट पर हाथी पानी पीने आए तो वह हर्षित होकर किनारों पर उच्चलित नहीं होती और हरिण आए तो मन छोटा नहीं करती। उसके दो पाटों की अंजलि का नीर सबके लिए समान सुलभ है। मुनि-त्यागी का स्थान सम्राटों से भी ऊपर है। सम्राट् भी त्यागी के आशीर्वाद की अपेक्षा करता है और उससे ऐश्वर्य, विभूति, कृपाप्रसाद चाहता है। किन्तु मुनि निरपेक्ष है। यदि संसार आशा का दास है तो त्यागी ने आशा को दासी बना लिया है। वे मुनि मनुष्यपर्यायी होते हुए भी मनुष्यकोटि से ऊपर हैं। चिन्ता को वशीभूत करने से उन्हें सिद्ध (तपस्वी) कहा जाता है। 'जे नर चिन्ता बस करहिं ते माणस नहि सिद्ध' – ऐसा कहते हुए उनका स्तवन किया गया है और इतने पर भी वे केवल 'बाह्यग्रन्थिविहीनाः' ही हों तो क्या कहा जा सकता है ? वह तो अंगार में विद्रुम का भ्रम ही कहा जा सकता है।

प्रस्तुत निबन्ध 'पिच्छि और कमण्डलु' मुनियों के द्वारा धारणीय शौच-संयमोपकरण-विषयक है और ज्ञानोपकरण के रूप में शास्त्र रखने का, स्वाध्याय-तत्पर रहने का आदेश शास्त्रों में दिया गया है अतः लेखसमाप्ति से पूर्व यह आवश्यक है कि 'मूलाराधना' की उन पंक्तियों को स्मरण कर लिया जाए, जिनमें शिक्षा (स्वाध्याय) का आग्रह करते हुए आचार्य ने कहा है कि – 'प्राण जब कण्ठगत हों तब भी मुनि, तपस्वी को प्रयत्नपूर्वक आगमस्वाध्याय करना चाहिए।' आचार्य श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है – 'आगमचक्खू साहू' और 'अज्झयण-मेव झाणं' – साधु की आँखें उसका शास्त्र है। जहां उसे चर्या में संशयविकल्प हों, तत्काल शास्त्रों की शरण लेनी चाहिए। शास्त्र बताएंगे कि वह क्या करे ? क्या न करे ? और त्यागी का ध्यान उसका अध्ययन है। अध्ययन द्वारा ही वह सम्यक्त्व के विषय में जानकारी प्राप्त करता है। शास्त्रों की सीप से सम्यक्त्व के मुक्ताफल मिलते हैं। तन्मयता बढ़ती है और ज्ञानसम्पन्न होने से

स्व-पर का बोध होता है। इस प्रकार ध्यान द्वारा जो परिणामविशुद्धि होती है वही शास्त्रस्वाध्याय से सिद्ध होती है। यही सोचकर आचार्य कहते हैं 'अध्ययनम् एव ध्यानम्'–यहां 'एव' शब्द निश्चयपरक है। वास्तव में जिनसरस्वती के दर्शन करनेवालों ने तन्मय होकर अध्ययन में ही ध्यान तथा समाधि प्राप्त की है। जिन्होंने दुस्तर संसारवारिधि को तैरकर पार जाने के लिए पिच्छिकमण्डलु तथा शास्त्र तीन उपकरण एवं सम्यक्त्वपूर्वक दर्शन-ज्ञानचारित्ररूप त्रिरत्नों को धारण कर लिया है मानो उसने जन्म-पुनर्जन्म की गति रोकने के लिए वज्रमय तिहरी प्राकारभित्तियों का निर्माण कर लिया है। पिच्छि शिवमार्ग की बुहारी है, कमण्डलु सिंचन करनेवाला है और शास्त्र शिवमार्ग की दिशाबोध की ध्रुवसूची (कम्पास) है। उस दुर्गम पथ पर पहुँचनेवाला तो कर्मरजोविमुक्त आत्मा ही है, इति शुभम्।

शब्द और भाषा

शब्द का अर्थ ध्वनि है और इस निरुक्ति से शब्द ध्वन्यात्मक है। इस ध्वनि को अपने व्यावहारिक स्थैर्य के लिए मानव ने आकृतिबद्ध कर लिया है, अतः शब्द वर्णात्मक है। तर्कशास्त्रियों ने इसी बात का निर्वचन करते हुए लिखा है – 'शब्दो द्विविधः। ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्च। तत्र ध्वन्यात्मको भेर्यादौ, वर्णात्मकश्च संस्कृतभाषादिरूपः' – वस्तुतः ध्वनि शब्द का स्फोट है और वर्ण उसकी आकृति-परक रचना है। मानवजाति का लोकव्यवहार परस्पर बोलकर अथवा लिखकर चलता है। वह अपने विचारों को लिखकर स्थिरता प्रदान करना चाहता है। किसी एक समय वाणी द्वारा प्रतिपादित अथ च चिन्तन में आये हुए भाव किसी अन्य समय में विस्मृत हो जाते हैं इसी विचारणा ने लेखनप्रक्रिया का आरम्भ किया। इस लेखनप्रणाली से विश्व के किसी भी भाग पर स्थित मनुष्य अपने सन्देश को दूरातिदूर स्थानों तक पहुँचा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि लिपिमयी भाषा का विकास न हुआ होता तो मनुष्य साक्षात् वार्तालाप तो कर सकता था किन्तु उन्हें स्थिरता प्रदान नहीं कर सकता था। इस महत्त्वपूर्ण शब्द-स्थैर्यकरणविधा को जिस दिन लिखितरूप मिला, लिपिशक्ति प्राप्त हुई, वह दिन मानवजाति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा, इसमें कोई संशय नहीं। अब मानव अपने विचारों का संकलन कर सकता था, अपनी वाणी को स्थिरता दे सकता था और दूर अथवा समीप प्रदेशों तक अपनी आवाज़ पहुँचा सकता था। सिद्धान्त-वाक्यों के विस्मरण का लिपिरचना के बाद कोई भय नहीं रहा। परन्तु कालान्तर में मौखिक तथा लिखित भाषा में परस्पर प्रतिष्ठा को लेकर कलह उत्पन्न हो गया। लिपिरचना के पूर्वसमय में 'उक्ति' को प्रतिष्ठा प्राप्त थी और महान् उपदेशकों, आचार्यों के आशय को उदाहरणरूप में प्रस्तुत करते समय 'उक्तम्' – जैसा कि अमुक ने कहा है, कहकर अपने भाषण को समर्थन दिया जाता था किन्तु लिखने की शक्ति मिलने पर 'मौखिक' का महत्त्व समाप्तप्राय हो गया और जिह्वा की प्रमाणवत्ता हाथों को प्राप्त हो गई। हाथ से लिखा हुआ प्रामाणिक माना जाने लगा और मुख से कहा हुआ लिपिरूप में प्रत्यक्ष (आँखों के समक्ष) न होने से अविश्वस्य हो गया। अस्तु।